

‘अंधेरे में’ और फैंटेसी काव्य-शिल्प

डॉ. कमला कौशिक

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

मुक्तिबोध ऐसे कवि हैं जिनका सारा जीवन एक मुठभेड़ है। उनकी कविता ही नहीं, उनका समूचा साहित्य ही उस यथार्थ से मुठभेड़ की एक अटूट प्रक्रिया है, जिससे जूझते हुए उनकी जिंदगी गुजर गयी। हर रचना उनके लिए एक भयानक शब्दहीन अंधकार को, जो आज भी भारतीय जीवन या कहा जाए मानवीय जीवन के चारों ओर खिंचा हुआ है— को लांघने की एक और कोशिश है।

मुक्तिबोध के तमाम साहित्य में केवल एक ही पात्र है, जो अलग-अलग नामों में, अलग-अलग रूपों में और कभी-कभी लिंग परिवर्तित कर उपस्थित होता है। यह पात्र मध्यवर्ग के आध्यात्मिक संकट का गवाह, व्याख्याता, पक्षधर, भोक्ता, विरोधी— सबकुछ है। कुछ हद तक यह पात्र स्वयं मुक्तिबोध हैं, और कुछ हद तक यह पात्र वह व्यक्ति है जो मुक्तिबोध के साथ-साथ चलता है। अंधेरे में भी एक ‘मैं’ है और एक ‘वह’। डॉ. नामवर सिंह का मानना है कि “नाटकीय कौशल के लिए कविता का ‘मैं’ दो व्यक्ति-चरित्रों में विभक्त कर दिया गया है, एक है काव्य-नायक ‘मैं’ और दूसरा है उसका प्रतिरूप ‘वह’। यह विभाजन वस्तुतः एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं बल्कि इसका आधार आत्म-निर्वासन (सेल्फ-एलिएनेशन) है।”¹

‘वह’ व्यक्ति मुक्तिबोध की सुनता ही नहीं बल्कि उन्हें सुनाता भी है, नसीहत भी देता है, उन्हें फुसलाने की कोशिश भी करता है। मुक्तिबोध की कविताएँ ही नहीं, अन्य साहित्यिक विधाएँ भी दो पात्रों के बीच— एक स्वयं मुक्तिबोध और दूसरा मुक्तिबोध का सहयात्री— अनंत वार्तालाप है। इस वार्तालाप का क्रम न तो डायरी में टूटा है, न कविता में, न कहानी में। शायद ही किसी कलाकार ने अपने अनुभव को आखिरी निष्कर्ष तक पहुँचाने के लिए स्वयं को इस हद तक निचोड़ा हो, जिस हद तक मुक्तिबोध ने निचोड़ा है— यहाँ तक की इस प्रयत्न में स्वयं मुक्तिबोध पूरी तरह निचुड़ गये। उनके अनुभव का आवेग अभिव्यक्ति की क्षमता से हमेशा बड़ा रहा, जिसके सामने हदबंदियाँ लाचार रही।

मुक्तिबोध की कल्पना वर्तमान से सीधे टकराती है, जिसे हम फंतासी (फैंटेसी) की शकल में देखते हैं। इसी कारण नयी कविता की पायेदार पहचान बनकर भी उनकी कविता उससे आगे निकल जाती है क्योंकि समकालीन जीवन के ‘हॉरर’ की तीव्रतम अभिव्यक्ति के बावजूद वह एक गहरे आत्मविश्वास की उपज है। उन्होंने अपनी कविता का जो फॉर्म चुना, वह उनकी अभिव्यक्ति के सर्वाधिक माकूल था। पूरी तौर पर तो वह भी नहीं क्योंकि अगर ऐसा होता तो मुक्तिबोध यह न लिखते—

“मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसंभवा”

अनुभव और विचार दोनों ही स्तरों पर मुक्तिबोध लगातार सरलीकरण के के विरुद्ध रहे, क्योंकि वे जानते थे कि सत्य का सरलीकरण संभव नहीं है। उसे उसकी निजता से आगे ले जाकर

सामान्य बनाना, उसका सामान्यीकरण करना जरूर अपेक्षित है, लेकिन ऐसी जटिलता और आज के आदमी के वैचारिक ऊहापोह का अतिक्रमण करना सही नहीं होगा। ‘अंधेरे में’ ही नहीं उनकी किसी कविता के संदर्भ में फैंटेसी के काव्य-शिल्प के औचित्य पर विचार करते ही प्रथमतया यही स्पष्ट होता है कि मुक्तिबोध कविता से बहुत सारे काम एक साथ लेना चाहते थे। जिस तरह का सामाजिक दस्तावेज और नैतिक अन्वेषण मुक्तिबोध कविता को बनाना चाहते थे उसके लिए उनकी कल्पना का औपन्यासिक या महाकाव्यात्मक होने के साथ-साथ फैंटेसी जैसा शिल्प अनिवार्य ही था।

लंबी कविताएँ मुक्तिबोध से पहले प्रसाद, पंत और निराला लिख चुके थे। आधुनिक कविताओं में यह फॉर्म पहले ही आ चुका था। मुक्तिबोध का नयापन इसमें यह है कि उन्होंने इस फॉर्म में ‘फैंटेसी’ के शिल्प का प्रयोग किया। इसलिए अशोक वाजपेयी का मानना है कि “एक अर्थ में उनकी कविता का कोई पूर्वज नहीं है। उन्हें उस समय हिंदी में जो मॉडल सुलभ थे, उनसे उनका काम नहीं चल सकता था। इसलिए उन्होंने कष्टपूर्वक एक बिल्कुल नया स्थापत्य अपने लिए गढ़ा।”²

दरअसल मुक्तिबोध की कविताओं में परिवर्तित, गतिशील एवं संश्लिष्ट यथार्थ की बयानी है। उनका यथार्थ बहुत स्पष्ट, बहुत सुलझा या कहिए की सतही किस्म का नहीं है। यथार्थ के भीतर की दुनिया अधिक गहरी और व्यापक होती चली जाती है। यथार्थ की इतनी बड़ी दुनिया को किसी अन्य फॉर्म व शिल्प में ला पाना संभव नहीं। मुक्तिबोध फैंटेसी के साथ लंबी कविता के कवि भी हैं। उनकी काव्यानुभूति की बुनावट ही ऐसी है कि वह फैंटेसी के शिल्प में लंबी कविता में ही अँटेगी। सामाजिक यथार्थ के परस्पर गुंफित तत्वों की शिनाख्त भी बिना फैंटेसी के बेहतर तरीके से नहीं हो सकती।

स्वयं मुक्तिबोध का ‘एक साहित्यिक की डायरी’ में आत्म-स्वीकार है कि कविता का अंत करना उन्हें नहीं आता। अगर प्रदीर्घता की वजह से वे कविता को बीच में छोड़ते हैं, तो वह उन्हें अधूरी जान पड़ती है। मुक्तिबोध अपनी कविताओं में खंडित नहीं अपितु संपूर्ण बिम्ब पकड़ना चाहते हैं। वे एक ही साथ अपनी कविता में कई कालों में विचरण करते हैं। कई बिम्बों, प्रतीकों, चरित्रों (ऐतिहासिक एवं सामयिक दोनों) एवं मिथकों का प्रयोग एक ही साथ एक ही कविता में देखा जा सकता है।

देश-काल, बाहर-भीतर, चेतन-अचेतन, स्वप्न-यथार्थ, इनका द्वंद्व, इनकी आवाजाही, विलोम स्थितियों का टकराव, देश-कालातीत और तर्कातीत हो जाना यथार्थ के परंपरागत ढाँचे में यह सब संभव नहीं था। फैंटेसी का औचित्य यहीं स्पष्ट होता है। फैंटेसी इन सबको एक साथ साधने की सुविधा देता है। स्वप्न में एकबद्धता होती है जबकि फैंटेसी स्वतंत्रता देती है— चीजों को अपने ढंग से नियोजित करने की। फैंटेसी में लक्ष्यपरकता होती है। कवि जानता है कि उसे किस मुकाम पर पहुँचना है, वह भी बिना पाठक को असहज किए। इस कविता के संदर्भ में लक्ष्यपरकता को लेकर फैंटेसी का औचित्य

यह दिखता है कि कवि तमाम दुश्वारियों के बावजूद भी पहुँचता है— 'अरुण कमल' तक :-

“तब कहीं देखने मिलेंगी हमको
नीली-झील की लहरीली थाहें
.....
अरुण कमल एक,
धँसना ही होगा

झील के हिम-शीत सुनील जल में।” (अंधेरे में, प्रतिनिधि संकलन से, पृ. 161)

‘अंधेरे में’ कविता के काव्य-शिल्प का औचित्य तत्कालीन काव्य-परिदृश्य की पृष्ठभूमि से भी स्पष्ट होता है। इस कविता का रचनाकाल नेमीचंद्र जैन के हिसाब से 1957-‘62 के बीच का है। यह दौर भारतीय इतिहास का आशावादी दौर रहा है जिसकी वजह से काव्य-संवेदना का मुख्य स्वर आशा और अपेक्षा का था। डॉ. नामवर सिंह ने इसलिए इसे ‘नव-स्वच्छंदतावाद का दौर’ कहा है। उस समय की अधिकांश कविताएँ रोमांटिक अपेक्षाओं या संवेदनाओं को दर्शाती थीं। उसके विपरीत ‘अंधेरे में’ एक अलग ही मिजाज की कविता है। थर्रा देने वाला आतंक और झकझोर देने वाली बेचैनी के साथ एक अदद कशमकश के अनुभव की यह कविता है। इस हाल में तत्कालीन शिल्प और मुहावरा मुक्तिबोध के लिए उसी तरह नाकाफ़ी ठहरा, जिस तरह किसी समय निराला के लिए तत्कालीन काव्य-साँचा कमतर पड़ गया था। मुक्तिबोध ने अपनी तलाश ‘फँटेसी’ के रूप में की। उनकी यह तलाश चेतना और यथार्थ से उनके बहुस्तरीय संबंधों का अपरिहार्य परिणाम है। चूँकि फँटेसी वह दुनिया है, जिसमें देशकाल के नियम और यथार्थवादी तर्क लागू नहीं होते। यथार्थवादी कल्पना में कल्पना कितनी ही दूर क्यों न जाए, देश-काल और यथार्थवादी तर्क का अनुशासन बना रहता है जबकि फँटेसी इसके परे जाने का प्रयत्न है।

फँटेसी को लेकर स्वयं मुक्तिबोध का विचार ही उसके औचित्य को स्पष्ट करता है— “इस प्रकार की ज्ञानगर्भ फँटेसी वास्तविक जीवन का ही प्रतिनिधित्व करती है। लेखक प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है, वह संक्षेप में ज्ञान-गर्भ फँटेसी द्वारा सार रूप में जीवन की पुनर्रचना करता है।”

इस कविता की फँटेसी ही वह चीज है, जो यह स्पष्ट कर देती है कि जो दुःस्वप्न छठे दशक में फँटेसी लगता था, वह हमारे समय का नितांत फँटेसी-विहीन घोर यथार्थ है। इसलिए यह स्वाभाविक जान पड़ता है जब ‘अंधेरे में’ के संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह ‘जॉर्ज ऑरवेल’ के उपन्यास ‘1984’ को याद करते हैं, जो कि आज की जीती-जागती सच्चाई है। व्यवस्था के अगोचर की प्रकृति और परिणति को भाँप लेने के लिए भी प्रचलित शब्दावलियों और परिभाषाओं से परे जाने पर फँटेसी की दरकार उसके औचित्य को सिद्ध करती है। एक स्तर पर फँटेसी अंतर्दर्शन की प्रक्रिया है, जिसके सम्मुख साम्राज्यवादी, पूंजीवादी और फासिस्ट प्रतिष्ठानों की गतिविधियों के रहस्यमय, गूढ़ और गुह्य तिलिस्म खुल जाते हैं। इस तरह अवचेतन का शिल्प सत्य-दर्शन का शिल्प बन जाता है—

“भीतर का राक्षसी स्वार्थ अब
साफ उभर आया है,
छिपे हुए उद्देश्य
यहाँ निखर आये हैं।” (अंधेरे में, प्रतिनिधि संकलन से)

दूसरे स्तर पर फँटेसी दिक्-काल को अन्वित करती है और दृश्यमान असंबद्धता को किसी अंतर्हित ज्ञानात्मक संवेदनात्मक ज्ञान

के द्वारा सूत्रबद्ध करती है। जग-दर्शन की भूमिका में ही काव्य-नायक को सितारों के बीच टॉलस्टाय दिखायी देते हैं—

“हाय! हाय! टॉलस्टाय
कैसे मुझे दिख गए
सितारों के बीच-बीच
धूमते व रुकते
पृथ्वी को देखते।” (अंधेरे में, प्रतिनिधि संकलन से)

इसके तुरंत बाद वह बहुचर्चित प्रोसेशन दिखायी देता है, जिसमें उस शहर की मृतात्माएँ जुलूस की शकल में चली आ रही हैं—

“और अब
गैसलाइट पाँतों की बिंदुएँ छिटकीं
बीचों-बीच उनके
साँवले जुलूस-सा क्या-कुछ दिखता??
.....
विचित्र प्रोसेशन
गंभीर विवक मार्च...” (अंधेरे में, प्रतिनिधि संकलन से)

कहाँ टॉलस्टाय और कहाँ उस शहर की मृतात्माएँ? इन दोनों दृश्यों के बीच ऊपर से कोई तारतम्य नहीं दिखायी देता लेकिन भीतर उतरने पर उनका गहरा संबंध प्रकट होता है। मुक्तिबोध के एक निबंध में टॉलस्टाय का जिक्र यों आया है—

“टॉलस्टाय की नैतिक भावना की मूल पीड़ा, जिन परिस्थितियों में बद्ध और ग्रस्त जिस टाइप में हो सकती है, वह परिस्थिति और व्यक्तित्व का वह टाइप आज भी हमारे भारतीय जीवन में जिया जाता है, पाया जाता है।”

इस मायने में टॉलस्टाय एक ऐसी मर्मभेदी दृष्टि बनकर यहाँ उपस्थित हैं, जो प्रतिष्ठित बड़े नामों के कारनामे देख लेती है।

इसी कविता में एक अन्य स्तर पर फँटेसी जनक्रांति की आद्योपान्त प्रक्रिया, उसमें बुद्धिजीवियों, कलाकारों और चिन्तकों की निष्क्रिय और पलायन भूमिका का मर्म खोलती है। इसी कविता में एक कलाकार का रूपायन है, जो आतंकवादियों के हाथों मारा जाता है। आखिर क्यों?

“वह कलाकार था।
गलियों के अंधेरे का हृदय में भार था।

.....
चलाता था अपना असंग व्यक्तित्व।” (अंधेरे में, प्रतिनिधि संकलन से)

कविता में तनाव, कौतूहल, क्रमबद्धता, दृश्यात्मकता, कथात्मकता और देश-समाज की वर्तमान दशा-दिशा को सामने लाने में फँटेसी कारगर ढंग से अपनी भूमिका निभाती है—

“रात के दो हैं,
दूर-दूर जंगल में सियारों का हो-हो,
पास-पास आती हुई घहराती गूँजती
किसी रेलगाड़ी के पहियों की आवाज!!
.....।” (अंधेरे में, प्रतिनिधि संकलन से, पृ. 134)

कविता में फँटेसी के प्रयोग से ‘मैं’ और ‘वह’ का संबंध सपाट विभाजन होने से बच जाता है। इसके कारण ही काव्य के विविध रूप और अनुभव लगभग तर्कतर होते जाते हैं—

क. "एकाएक उठ पड़ा आत्मा का पिंजर
मूर्ति की ठठरी।

नाक पर चश्मा, हाथ में डंडा

.....
संभालना इसको, सुरक्षित रखना।" (वही, पृ. 152)

ख. "इतने में पाता हूँ अंधेरे में सहसा
कंधे पर कुछ नहीं!! वह शिशु

चला गया जाने कहाँ,

और अब उसके ही स्थान पर

मात्र हैं सूरजमुखी फूल-गुच्छे।" (वही, पृ. 154)

ग. "कंधे क्यों वजन से दुख रहे सहसा।

ओ हो!!

बंदूक आ गई

वाह वाह!!

वजनदार रायफल

भई खूब!!" (वही, पृ. 154)

बच्चा सूरजमुखी फूल में, सूरजमुखी फूल रायफल में— यह कविता में फैंटेसी से ही संभव है। अन्य युक्तियाँ दम तोड़ जाएँगी। काव्यनायक सिरफिरे पागल से जा टकराता है और वह कवि की अंतरात्मा का प्रतीक बन जाता है। जाहिर है कि सीधे-सीधे यथार्थ-परक बिंब विधान में न यह नाटकीय सघनता संभव थी और न ही अपने-आप से बहस की यह तीखी गतिशीलता।

कविता की अंतर्वस्तु में मुक्तिबोध ने अपने समय के प्रखर यथार्थ को, सत्ता के दमनकारी, जनविरोधी चेहरों को, आतंक, भय, हिंसा, यातना और रक्तपात की बुनियाद पर टिकी उसकी इमारत की एक-एक ईंट को, जिस तरह बेनकाब किया वह बिना फैंटेसी के उस रूप में नहीं हो पाता, जिस रूप में हुआ। इसी फैंटेसी के औचित्य के सिलसिले में डॉ. नामवर सिंह का कहना है कि "मुक्तिबोध की दृष्टि में कविता के अंतर्गत 'फैंटेसी' के प्रयोग की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है।... स्वप्न शैली के साथ एक सुविधा यह भी है कि आवश्यकतानुसार देश और काल की दृष्टि से नितांत असंबद्ध तथा दूर की वस्तुओं को भी एकत्र रखा जा सकता है। 'अंधेरे में' के अंतर्गत टॉलस्टाय, तिलक और गाँधी इसी जादू की छड़ी से बुला लिए गए हैं। इसी प्रकार सामान्यतः असंभव प्रतीत होने वाली घटना भी स्वप्न-चित्र से संभव दिखाई जा सकती है और उसके औचित्य के बारे में कोई संदेह भी नहीं कर सकता।" ³

'अंधेरे में' में कविता ऊपरी तौर पर घटनाओं और विवरणों से भरी पड़ी है लेकिन कहीं इसका अहसास नहीं होता कि हम विवरण की सपाटता में फँस गये हैं क्योंकि यहाँ हर घटना और हर लंबा विवरण एक पूरा बिम्ब है। उसके अंदर शब्दों के छोटे-छोटे लयात्मक बिम्ब भी भरे हुए हैं।

वास्तव में फैंटेसी का कविता में औचित्य यह है कि भाषा फैंटेसी को काटती-छाँटती है और इस प्रक्रिया के विपरीत फैंटेसी भाषा को संपन्न और समृद्ध भी करती है। कवि की यह फैंटेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसमें नये अर्थ-अनुषंग भर देती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है।

'चौद का मुँह टेढ़ा है' संकलन की भूमिका में शमशेर बहादुर सिंह ने इसे 'व्यक्ति और जन के एकीकरण' की कविता कहा है। उनके अनुसार 'यह कविता देश के आधुनिक जन-इतिहास का, स्वतंत्रता पूर्व एवं पश्चात् का, एक दहकता इस्पाती दस्तावेज है।' इसे उन्होंने आधुनिक काव्य-सृष्टि का 'सर्वोपरि विजय-चिन्ह' भी कहा है। डॉ. नामवर सिंह ने इसे 'परम अभिव्यक्ति की खोज' कहा। श्रीकांत वर्मा

इसे 'कविता का हिंदुस्तान' कहते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी इसे 'संघर्ष पुरुष की स्वप्न-कथा' कहते हैं। ये सभी टिप्पणियाँ कहीं-न-कहीं उसके शिल्प-फैंटेसी को भी महत्तर घोषित करती हैं।

अंततः किसी रचना-शिल्प के औचित्य का असली सवाल यह है कि उस शिल्प के जरिए यथार्थ तत्व की व्यंजना होती है या नहीं! हम पाते हैं कि 'अंधेरे में' इस लिहाज से हमें आश्चर्य ही नहीं करती प्रत्युत् एक नई दिशा भी देती है और यथार्थ में हस्तक्षेप करने वाली मानव-चेतना की संभावनाओं का विस्तार भी करती है।

संदर्भ सूची

1. अंधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज, पृ. 222, कविता के नए प्रतिमान – नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2009
2. भूमिका, पृ. 06, प्रतिनिधि कविताएँ: गजानन माधव मुक्तिबोध, संपादक: अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1991
3. अंधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज, पृ. 225, कविता के नए प्रतिमान – नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2009